समयसार के बारे में

लेखकः CA. जयेश शेठ, बोरिवली – www.jayeshsheth.com

1. समयसार ग्रन्थ में कहा है कि हमने अनादि से बन्धकथा कई बार सुनी है और सुनायी भी है परन्तु आत्मा के भेदज्ञान की कथा कभी नहीं सुनी। या तो उसका विचार ही नहीं किया या फिर उसका उल्टा ही विचार किया। अर्थात तत्त्व के विचार में विपरीतता ही रही है। जैसे कि किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से शुद्ध ग्रहण किया है और किसी ने अपनी आत्मा को एकान्त से अशुद्ध ग्रहण किया। वास्तव में आत्मा पर्यायदृष्टि से अशुद्ध है और द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है। बिना अपेक्षा समझे न तो समयसार ग्रन्थ समझ में आयेगा और न ही आत्मकल्याण हो पायेगा। यही अपनी अनादि की कहानी है।

2. राग-द्वेष की कथा, भक्तकथा, देशकथा, शौर्यकथा, विकथा आदि तो बन्धकथा हैं ही परन्तु यदि बिना मोक्ष के लक्ष्य से ज्ञानावरणादि कर्मों की कथा कर रहे हों तो उसे भी बन्धकथा में ही शामिल किया जा सकता है क्योंकि अगर हम यह जानकारी आत्मप्राप्ति यानी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये उपयोग में नहीं लाते तो हम अनादि के दुःखों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते यानी अनादि के कर्मों के विषचक्र से मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये सभी मुमुक्षु जीवों को अपना पूरा पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में ही लगाना चाहिये।

3. समयसार ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा की बात की गयी है। यानी वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर शुद्धात्मा से एकत्व यानी मैंपन तथा पुद्गलकर्मों से और उन कर्मों के कारण होनेवाले अपने भावों से विभक्त यानी अन्यत्व यानी भेदज्ञान करना है। ऐसा करते ही योग्यताप्राप्त जीवों को आत्मानुभूति होती है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

4. समयसार ग्रन्थ में पर को दो भागों में बाँटा गया है - एक वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे कर्मों के कारण होनेवाले जीव के रागादि भाव। इन दोनों से जब जीव वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता पाकर भेदज्ञान करता है तब उसे आत्मानुभूति हो सकती है। बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा कई बार भी करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

5. समयसार ग्रन्थ में प्रमुखतः परम शुद्ध निश्चयनय के विषय यानी शुद्धात्मा का वर्णन है, उस शुद्धात्मा को ही आत्मा कहा गया है। बाक़ी सभी वर्णादि पुद्गल के भाव और दूसरे रागादि जीव के कर्मों के कारण होनेवाले भावों से भेदज्ञान कराया है। परन्तु बिना आत्मा की योग्यता के यदि कोई ऐसा शब्दों से कई बार भेदज्ञान करने की कोशिश करता है तो भी उसे आत्मानुभूति नहीं होती उल्टे उसके भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

6. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इसलिये कहा है कि उसमें पहले से छठवें गुणस्थान तक होनेवाले प्रमत्तभाव, और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक होनेवाले अप्रमत्तभाव भी नहीं हैं। कई लोग उसे पर्यायरहित द्रव्य भी कहते हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से वस्तु अभेद होने के कारण से उसमें से पर्याय को निकालना शक्य ही नहीं है। पर्याय तो गौण करनी पड़ती है।

7. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है। इस अपेक्षा से आत्मा में रागादि विशेषभाव नहीं है ऐसा भी बताया है परन्तु यदि कोई जीव स्वयं को एकान्त से ऐसा रागादिरहित मानता है तो वो मिथ्यात्व में परिणमता है। इसलिये सभी को उसे जैसा यथातथ्य बताया है वैसा ही अनेकान्त से समझना है और मानना है।

8. समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः ज्ञानसामान्यभाव रूपी ज्ञायक को ही आत्मा बताया है क्योंकि वैसा ज्ञायकभाव ही अनुभूति का विषय है। आत्मानुभूति में कोई भी विशेषभाव नहीं होने से आत्मानुभूति निर्विकल्प होती है, उसे ही समयसार में शुद्धनय बताया है। उस शुद्धनय प्राप्त जीव को यानी सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीव को अभेद शुद्धात्मा ही उपादेय बताया है जो शुद्धनिश्चयनय का विषय है। इसलिये ज्ञानी को निश्चयनय का आलम्बन लेने योग्य बताया है और अज्ञानी को आत्मानुभूति न होने के कारण व्यवहारनय से उपदिष्ट करने को कहा है क्योंकि उसे अभी तक शुद्धनय की प्राप्ति हुई नहीं है। इसलिए वह शुद्धनय का आलम्बन नहीं ले सकता। उसके लिये व्यवहारनय उपयोगी बताया है। इस बात को न समझने के कारण कई उपदेशक अज्ञानी को भी निश्चयनय का ही उपदेश देते हैं।

9. समयसार ग्रन्थ में आत्मा को पुद्गल कर्मों से, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भावकर्मों से और नोकर्मों से भिन्न बताया है क्योंकि वही जीव आत्मानुभूति का विषय है। पुद्गल कर्म और नोकर्म तो आत्मा से त्रिकाल भिन्न ही हैं परन्तु कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के रागादिभाव जीव में ही होते हैं। चूँकि वे रागादिभाव जीव के त्रिकालभाव नहीं हैं और आत्मानुभूति का विषय तो जीव का त्रिकालभाव ही होता है इसलिये उन भावकर्मों को उस अपेक्षा से जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है। इसलिये यह बात ज्ञानी की अपेक्षा से कही गयी है। यदि अज्ञानी इस बात का अनुभव न होने पर भी शब्दों से कहने लगता है और मानने लगता है तो यह उसका महामिथ्यात्व होगा, यह समझना परम आवश्यक है।

10. पुद्गल कर्म जीव के विशेषभावों में ही निमित्त बनते हैं न कि जीव के सामान्यभावों में और समयसार जैसे ग्रन्थ का हार्द है ज्ञानसामान्यभाव यानी द्रव्यात्मा यानी शुद्धात्मा। समयसार ग्रन्थ में मुख्यतः जीव के सभी विशेषभावों को अनात्मा कहा गया है क्योंकि उन विशेषभावों से भेदज्ञान

करने से ही समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव की अनुभूति होती है और समयसार में प्रमुखतः समयसाररूप ज्ञानसामान्यभाव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी का ही वर्णन है। इसलिये कर्ता-कर्म अधिकार में भी केवल उपादान की अपेक्षा से ही कर्ता-कर्म की बात कही है। निमित्त को कर्ता के रूप में नहीं स्वीकारा है।

11. कर्म पुद्गलवर्गणाओं से बने हैं इसलिये वे जड़ हैं, कर्मों के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव आत्मा के परिणमन होने से चेतन हैं और नोकर्म यानी जीव का शरीर, पत्नी, पुत्र, परिवार, घर, सम्पत्ति आदि जो जीव को कर्मों के कारण मिलते हैं, वे जड़, चेतन या मिश्र होते हैं। जब आत्मानुभूति होती है तब इन तीनों से परे शुद्धात्मा का अनुभव होता है। बिना आत्मानुभूति के कोई यदि स्वयं को शुद्धात्मा मानने लगता है तो उसे भ्रम होता है, उसे लगता है कि वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) है। वास्तव में वह निश्चयाभासी है यानी उसे शुद्धनय का केवल भास होता है, अनुभूति नहीं। इसलिये सभी मुमुक्षुओं को पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होने का प्रयास करना चाहिये, स्वयं को शुद्धात्मा मान लेने का प्रयास नहीं करना चाहिये अन्यथा वे निश्चयाभासी ही होंगे।

12. जब किसी जीव को आत्मानुभूति होती है, तब उसे सामान्यभाव का यानी द्रव्यात्मा का यानी शुद्धात्मा का अनुभव होता है। तब उस जीव का मैंपन उस शुद्धात्मा से स्थापित होता है। वह शुद्धात्मा से मैंपन अनुभूति के काल में उपयोगरूप से होता है और बाद में जब तक सम्यग्दर्शन रहता है तब तक वह मैंपन लब्धरूप से होता है। इस तरह उस जीव को शुद्धात्मा से मैंपन कभी उपयोगरूप से और कभी लब्धरूप से होता है। जब उसे शुद्धात्मा से मैंपन लब्धरूप से होता है तब वह पर्याय का ज्ञाता होता है। इस प्रकार उस जीव को ज्ञाताद्रष्टा कहा जाता है। यदि कोई बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तो वह भ्रमित है।

13. जब कोई जीव बिना आत्मानुभूति के स्वयं को ज्ञाताद्रष्टा मानता है या ज्ञाताद्रष्टा होने का ध्यान करता है तब वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। वास्तव में यदि वह अज्ञानी अध्यात्ममार्ग में प्रगति करना चाहता है तो उसे अपने वर्तमान परिणमन के प्रति उदासीन न रहते हुए उसे सत्यधर्म के अनुकूल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब हमें बुख़ार आता है तब हम उस स्थिति में सिर्फ़ ज्ञाताद्रष्टा नहीं रहते बल्कि हम उसका इलाज करते हैं। वैसे ही अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज करना चाहिये।

14. समस्त संसारी जीवों को सभी संयोग अपने कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। इसलिये सभी संसारी जीवों को कौनसे संयोग मिलेंगे उसमें वे पराधीन हैं, परवश हैं। परन्तु वे अपनी प्रतिक्रिया देने में स्वतन्त्र हैं। इसी लिये जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति के लिये अध्यात्ममार्ग के अनुकूल अपने परिणमन का यथार्थ इलाज बारह भावना, चार भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), इत्यादि का आश्रय लेकर कर सकता है। इस प्रकार अज्ञानी को भी अपनी पर्याय के प्रति उदासीन न रहते हुए उसका अध्यात्ममार्ग के अनुसार यथार्थ इलाज करना चाहिये। "हम तो ज्ञाताद्रष्टा हैं" ऐसे भ्रम में रहकर मूढ़ नहीं बने रहना चाहिये।

15. कई लोग ज्ञाताद्रष्टा बने रहने का ध्यान या अभ्यास करते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है। इसलिये तो समयसार ग्रन्थ में अज्ञानी को कर्ता बताया है और ज्ञानी को अकर्ता बताया है। जब अज्ञानी पर्याय का कर्ता होता है तब वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा कैसे बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। इसी लिये अज्ञानी के लिये ज्ञाताद्रष्टा रहने का ध्यान या अभ्यास भ्रम में ले जानेवाला बनता है और वह स्वयं के परिणमन का अध्यात्ममार्ग के अनुकूल यथार्थ इलाज भी नहीं कर सकता बल्कि वह केवल मूढ़ ही बना रहता है।

16. बिना आत्मा की अनुभूति के मिथ्यादृष्टि को केवल पर्याय का ही अनुभव होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है। और ज्ञानी को केवल शुद्धात्मा का ही अनुभव होता है इसलिये ज्ञानी का मैंपन भी उस शुद्धात्मा में ही होता है और पर्याय का वह केवल ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी का सहज ही में ज्ञाताद्रष्टाभाव बना रहता है। इसलिये अज्ञानी को ज्ञाताद्रष्टा बनने का अभ्यास नहीं परन्तु आत्मानुभूति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। जिससे वह आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सके।

17. ज्ञानी का मैंपन केवल शुद्धात्मा में ही होने के कारण वह पर्याय का ज्ञाताद्रष्टा होता है, कर्ता नहीं। इसलिये ज्ञानी को बन्धभाव में मैंपन न होने के कारण ज्ञानी को बन्ध नहीं होता ऐसा कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी बन्धभाव की पर्याय का कर्ता नहीं है केवल ज्ञाताद्रष्टा ही है। जबकि अज्ञानी को केवल पर्याय का ही अनुभव होने के कारण उसका मैंपन भी पर्याय में ही होता है इसलिये वह पर्याय का कर्ता होता है यानी बन्ध का भी कर्ता होता है।

18. अनादि से मेरी ग़लती के कारण से ही मैं संसार में भटक रहा हूँ। अनादि से मैंने कभी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपनी आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये कहा जा सकता है कि अपने संसार और मोक्ष के लिये मैं ही स्वयं ज़िम्मेदार हूँ। यह समझ बनाकर अब सभी साधकों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति पाने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

19. ज्ञानी को सिर्फ़ शुद्धभाव का ही आदर होता है यानी केवल शुद्धात्मा में ही रहने का अभिप्राय होता है परन्तु जब तक वह शुद्धात्मा में नहीं रह सकता तब तक वह शुभभाव में रहता है। हालाँकि अज्ञानी को अभी तक शुद्धभाव का अनुभव ही नहीं है परन्तु उसे भी लक्ष्य में शुद्धभाव ही रखना चाहिये और जब तक उसे शुद्धभाव नहीं मिलता तब तक उसे केवल शुभभाव में ही रहना है। यह समझ नहीं होने के कारण कई अज्ञानी जीव शुभ और अशुभ को एक समान मानकर अशुभ में भी बिना कोई अफ़सोस के मज़ा लेते हुए रहते हैं जिसकी वजह से वे अनन्त संसार में भटकते हैं।

20. समयसार की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा का श्रद्धान न जाने हुए गधे के सींग पर श्रद्धान के समान होने के कारण सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। यानी वह श्रद्धान केवल कल्पना ही होता है। इसलिये आत्मा सधती नहीं, आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होने पर भी कई उपदेशक अज्ञानी को भी "मैं शुद्धात्मा हूँ" यह मानने को कहते हैं या जाप जपने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। बिना आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के और बिना आत्मसन्मुखता पाये आत्मानुभूति नहीं होती यानी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

21. जब तक जीव को आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक उस जीव को शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता केवल शाब्दिक ज्ञान ही होता है। शुद्धात्मा का शाब्दिक ज्ञान हमने कई बार पाया है परन्तु यदि अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं पाया तो मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं मिलता। शाब्दिक ज्ञान से तो कई बार जीव ठगा भी जाता है, उसे लगता है जैसे उसने आत्मप्राप्ति कर ली है परन्तु वास्तव में वह निश्चयाभासरूपी भ्रम में जी रहा है।

22. जिसे संसार में डूबे हुए जीव सुख मानते हैं, वास्तव में तो वह दुःख ही है क्योंकि वह सुख (सुखाभास) भी दुःखपूर्वक ही होता है। वैसा सुख भोगते हुए आकुलता का दुःख होता है, उस सुख को भोगने के बाद उसके अभाव का दुःख होता है और उस सुख को भोगते वक़्त बाँधे हुए पापों से भविष्य में भी दुःख मिलता है। ऐसे सुख को हम सुख कैसे मान सकते हैं? नहीं मान सकते। इसलिये सभी साधकों/मुमुक्षुओं को सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये उन्हें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे उन्हें आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त हो सके।

23. जैसे हिरण मरीचिका के पीछे भागता है, वैसे ही हम भी सुखाभास को सुख मानकर उसके पीछे अनादि से भाग रहे हैं। फलस्वरूप हमें अनन्त दुःखमय संसार ही मिला है। इसलिये अब हमें

इस सुखाभास को पहचानकर उसके पीछे भागना बन्द करके सच्चे सुख की खोज करनी चाहिये। उसके लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति और सच्चा सुख प्राप्त कर सकें।

24. जानना-देखना आत्मा का लिंग है यानी आत्मा की पहचान है परन्तु जानने-देखने की क्रिया आत्मा के विशेषभाव में ही होती है, सामान्यभाव में नहीं। आत्मानुभूति केवल सामान्यभाव की ही होती है, विशेषभाव की नहीं। इसलिये आत्मानुभूति में आनेवाली शुद्धात्मा को समयसार ग्रन्थ में अलिंगग्राह्य बताया है क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

25. जीव और शरीर, वर्णादि का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध तो होता है परन्तु तादत्म्य सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे दोनों सिर्फ़ कुछ काल के लिये साथ रहते हैं, तीनों काल साथ नहीं रहते। अभव्य जीवों के भी शरीर के पुद्गल बदलते रहते हैं यानी वे एकमेवाद्वितीय नहीं हो जाते।

26. जीव और पुद्गल का अनादि से सम्बन्ध है इसलिये जीव को कई शास्त्रों में कथंचित् रूपी भी कहा है। यदि जीव को एकान्त से अरूपी मान लें तो उसका पुद्गल के साथ अनादि से बन्धन कैसे हो सकता है? इस अनादिबन्धन की अपेक्षा से जीव को कथंचित् रूपी और कथंचित् अरूपी कहा गया है। यह समझना आवश्यक है।

27. जीव के जो एकेन्द्रियादि, बादर-सुक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेद बताये हैं वे केवल जीव के विशेषभाव ही हैं। उससे जीव की वर्तमान स्थिति, गति आदि बतायी जाती है। परन्तु ये सभी आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप होती है और ये सभी जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है कि ये सभी आत्मा नहीं हैं क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

28. समयसार में बताया है कि गुणस्थान पौद्गलिक मोहनीय कर्मों के उदय से बनते हैं तो वे जीव कैसे हो सकते हैं क्योंकि यदि वे अचेतन कर्मों के कार्य हैं तो अचेतन ही होंगे न? जीव का पौद्गलिक मोहनीय कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है इसलिये जब जीव अपनी योग्यता से गुणस्थानरूप से परिणमता है तब वे पौद्गलिक मोहनीय कर्म निमित्त बनते हैं। परन्तु गुणस्थान विशेषभाव होने के कारण आत्मानुभूति के विषय शुद्धात्मा में नहीं होते क्योंकि शुद्धात्मा सामान्यभावरूप ही होती है और गुणस्थान जीव के विशेषभाव हैं। इसलिये समयसार में बताया है गुणस्थान आत्मा नहीं है क्योंकि समयसार में मुख्यतः आत्मानुभूति की विषयभूत शुद्धात्मा का ही आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है।

29. समयसार ग्रन्थ में बताया है कि जब तक जीव आत्मा और आस्रव का भेद नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी क्रोधादिक आस्रव में प्रवृत्ति करता है। हमने कई बार शब्दों से तो आत्मा और आस्रव के भेद को जाना परन्तु शुद्धात्मा की अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को नहीं जाना इसी लिये हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं। यदि सिर्फ़ शब्दों से आत्मा और आस्रव के भेद को जान लेने से अपनी मुक्ति हो जाती तो हम अभी तक यहाँ नहीं होते, सिद्ध बन गये होते। अनुभूतिपूर्वक आत्मा और आस्रव के भेद को जानने के लिये हमें सबसे पहले आत्मा की वैराग्यादि योग्यतापूर्वक आत्मसन्मुखता पाने का पुरुषार्थ करना चाहिये, जिससे हम आत्मानुभूति द्वारा आत्मा और आस्रव के भेद को जानकर क्रोधादि आस्रवों से मुक्त हो सकें।

30. व्यवहार से भगवान ने चार शरण बताये हैं – अरिहन्त, सिद्ध, साधु और सत्यधर्म। निश्चय से जिसने अपनी आत्मा प्राप्त की है उसके लिये अपनी शुद्धात्मा ही शरण है। कई लोग पुण्य को ही धर्म मानते हैं परन्तु बिना आत्मानुभूति के लक्ष्यवाला पुण्य जीव को भवभ्रमण से छुड़ा नहीं सकता। इसलिये हम पुण्य को शरण नहीं मान सकते परन्तु आत्मानुभूति के लक्ष्यपूर्वक बँधा पुण्य मोक्षमार्ग में अवश्य ही सहायक हो सकता है।

31. अनादि से ही जीव के एक तरफ़ गहरी खाई है और दूसरी तरफ़ मोक्षमहल है। एक तरफ़ खाईवाली ढलान होने के कारण अनादि से जीव इस संसाररूपी खाई में गिरकर अनन्त दुःखों को झेल रहा है। अब उस जीव को तय करना है कि उसे क्या चाहिये? एक तरफ़ अनन्त दुःख हैं और दूसरी तरफ़ अनन्त सुख है। जीव अनादि से चाहता तो सुख है परन्तु संसार के लिये ही पुरुषार्थ करता रहता है, इसलिये अनन्त दुःख पाता है। अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिये उसे सबसे पहले संसार के सत्यस्वरूप को समझकर अपना बहिरात्मपन दूर करना है और वैराग्यपूर्वक आत्मसन्मुखता पाकर आत्मानुभूति प्राप्त करनी है।

32. अनादि से जीव सुख को बाहर ढूँढ़ता है जबकि जीव का सुख जीव के बाहर कैसे हो सकता है? जैसे कस्तूरी मृग कस्तूरी को बाहर ढूँढ़ता है वैसे ही जीव भी अपने भीतर मौजूद सुख को बाहर ढूँढ़ता है। जब कोई कुत्ता हड्डी चबाता है तब वह हड्डी के कारण निकले अपने ख़ून को हड्डी से निकला हुआ ख़ून समझता है। ठीक उसी प्रकार जीव भी अनादि से भीतर के सुख को बाहर से मिलनेवाला सुख मानता है और विषयों के पीछे भागकर अपना अनन्त काल दुःखमय बना लेता है। यही हमारी अनादि की कहानी है।

33. जीव चेतन है और कर्म अचेतन। मगर अनादि से दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहा है। यद्यपि कर्म जीव को कभी भी अचेतन नहीं कर सकते तथापि वे जीव के अनन्त दुःखों के निमित्त अवश्य बन सकते हैं। यही अनादि से होता आ रहा है। कर्म यानी जीव के भूतकाल के

अज्ञानयुक्त भाव ही उसके अनन्त दु:खों में निमित्त बनते हैं। इसलिये कर्मों को दोष न देते हुए अपना सत्यधर्म का पुरुषार्थ बढ़ाना ही दु:खों से मुक्ति का सही इलाज है।

34. कार्य सदा उपादान सद्दश ही होता है। जैसा उपादान होता है वैसा ही कार्य होता है। जैसे स्वर्ण से गहने बनेंगे तो वे स्वर्णमय ही होंगे और लोहे से बनेंगे तो वे लौहमय ही होंगे। वैसे ही ज्ञान के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं परन्तु अज्ञानी की समझ की विपरीतता ऐसी है कि ज्ञान से भी ऐसे कार्य करवाती है कि अनन्त भविष्य दु:खमय हो जाये।

35. आत्मानुभूति सामान्यभाव में होती है, विशेषभाव में नहीं। सामान्यभाव निर्विकल्प होते हैं। नय विकल्पों में ही लगते हैं निर्विकल्प अवस्था में नहीं। इसलिये आत्मानुभूति निर्विकल्प तथा नयातीत होती है।

36. पाप और पुण्य अपेक्षा से समान होते हैं। इसलिये उन्हें समयसार में एक समान बताया है। पाप और पुण्य आस्रव की अपेक्षा से समान हैं क्योंकि दोनों आस्रव हैं। पाप और पुण्य बन्ध की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि दोनों का आत्मा के साथ बन्ध होता है। पाप और पुण्य जीव की स्वभावस्थिरता में बाधक होते हैं इसलिये भी समान हैं। पाप और पुण्य आत्मस्वभाव से विपरीतता की अपेक्षा से भी समान हैं क्योंकि वे जीव के त्रिकालस्वभाव नहीं हैं, इसलिये उपादेय नहीं हैं। परन्तु इस समझ से विपरीत अर्थ ग्रहण करके, यानी पाप एवं पुण्य को समान रूप से हेय मानकर अगर कोई पुण्य को छोड़कर पाप में रहता है तो वह अनन्त काल के लिये दु:खों को आमन्त्रण देता है। ऐसा करना समझ की विपरीतता होगी···और यही हमारी अनादि की कहानी है।

37. कई लोग समयसार में बताये गये ज्ञानी को सातवें गुणस्थानस्थित मानते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये की आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिये समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी की बात कही है वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

38. कई लोग भूलवश शुद्धोपयोग को शुक्लध्यान मान लेते हैं जो कि आठवें गुणस्थान से ही शुरु होता है। वास्तव में शुद्धोपयोग सम्यक् ज्ञान है इसलिये वह चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को आत्मानुभूति के काल में होता है।

39. जो भी उपदेशक समयसार पर प्रवचन देते हैं वे प्राय: समयसाररूपी ध्येय का तो अच्छी तरह से वर्णन करते हैं, समझाते हैं। परन्तु प्राय: वे उस ध्येय को पाने के मार्ग के प्रति अनभिज्ञ होते हैं या लोगों को बताते नहीं हैं। क्योंकि जब कोई मुमुक्षु वैराग्यादि योग्यताओं को पाकर, इच्छाओं का

नाश करके आत्मसन्मुख होता है तब उसे समयसाररूप आत्मा सहज ही अनुभव में आती है। यही विधि है समयसार को पाने की यानी सम्यग्दर्शन को पाने की।

40. अनेक लोग समयसार में बताये गये स्वसमय जीव को सप्तमगुणस्थानस्थित जीव मानते हैं। यह समझ समयसार में ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहे जाने के कारण बनी है। लेकिन यहाँ केवल सामान्यभाव की बात की गयी है, न कि विशेषभाव की, अर्थात् पर्याय की या चारित्र की, क्योंकि समयसार में केवल सामान्यभाव, यानी द्रव्यात्मा को ही आत्मा कहा गया है, जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं। उन सभी गुणों में से मुख्य तीन गुण लेकर यहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। उस द्रव्यात्मा में जो भी जीव स्थित होता है, उसे स्वसमय जीव कहा गया है, इसलिये उसे चतुर्थादिगुणस्थानस्थित जीव मानना चाहिये। दूसरी बात, समयसार में कई जगह स्वसमय जीव को ज्ञानी के रूप में भी वर्णित किया गया है, इसलिये हमें यह भी सोचना चाहिये कि आचार्य कुन्दकुन्द चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानी क्यों कहेंगे? इसलिए समयसार ग्रन्थ में जहाँ भी ज्ञानी या स्वसमयस्थित जीव की बात है, वहाँ चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये।

41. समयसार की सातवीं गाथा में कहा गया है कि "शुद्ध ज्ञायक में न ज्ञान है, न दर्शन है और न ही चारित्र है।" वस्तुतः शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानी की अनुभूति का विषय है। शुद्ध ज्ञायकभाव ज्ञानसामान्य भाव है, परमपारिणामिक भाव है, द्रव्यात्मा है। इसलिये इसमें पर्याय भी गौण है और गुणों के भेदरूप व्यवहार भी नहीं हैं, लेकिन इसमें सभी गुण अवश्य विद्यमान हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि चतुर्थादिगुणस्थानवर्ती जीव को शुद्धात्मा की अनुभूति होती है और शुद्ध ज्ञायक में सभी गुण विद्यमान होने के कारण उस जीव को स्वसमय जीव कहा जाता है, सम्यक् दृष्टि कहा जाता है।

WWW.JAYESHSHETH.COM